आत्म बोध

।। श्री गणेशाय नमः ।।

अथ श्री शंकराचार्य विरचित

॥ आत्मबोधः ॥

तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम् ।
मुमुक्षूणामपेक्ष्योऽयमात्मबोधो विधीयते ॥ १॥

मैं आत्म-ज्ञान के इस ग्रंथ, आत्मा-बोध की रचना उन लोगों के लिए कर रहा हूं, जिन्होंने तपस्या द्वारा खुद को शुद्ध किया है और जो हृदय से शांत और शांत हैं, जो लालसा से मुक्त हैं और मोक्ष के इच्छुक हैं।

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिध्यति ॥ २॥

जिस प्रकार अग्नि भोजन पकाने का प्रत्यक्ष कारण है, उसी प्रकार ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। अन्य सभी साधनाओं की तुलना में आत्मज्ञान ही मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन है।

अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत् ।
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसङ्घवत् ॥ ३॥

कर्म अज्ञान को नष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि यह अज्ञान के साथ संघर्ष या विरोध में नहीं है। ज्ञान वास्तव में अज्ञान को नष्ट कर देता है जैसे प्रकाश गहन अंधकार को नष्ट कर देता है।

परिच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशे सति केवलः ।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥ ४॥

अज्ञान के कारण आत्मा सीमित प्रतीत होती है। जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तो आत्मा जो किसी भी बहुलता को स्वीकार नहीं करती, वास्तव में स्वयं ही प्रकट हो जाती है: जैसे बादलों के हट जाने पर सूर्य प्रकट हो जाता है।

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्विनिर्मलम् ।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ॥ ५॥

ज्ञान के निरंतर अभ्यास से अज्ञान से लिप्त जीवात्मा शुद्ध हो जाती है और फिर वह लुप्त हो जाती है - जैसे कटक-अखरोट का चूर्ण कीचड़युक्त जल को स्वच्छ

करने के बाद नीचे बैठ जाता है।

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसङ्कुलः ।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधे सत्यसद्भवेत् ॥ ६॥

राग-द्वेष आदि से भरा हुआ यह संसार स्वप्न के समान है। जब तक यह चलता है, तब तक यह सत्य प्रतीत होता है, किन्तु जब जागता है (अर्थात् जब सच्चा ज्ञान प्रकट होता है) तब यह मिथ्या प्रतीत होता है।

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा ।
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥ ७॥

जब तक इस सृष्टि का आधार ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक जगत सत्य प्रतीत होता है। यह मोती में चाँदी के भ्रम के समान है।

उपादानेऽखिलाधारे जगन्ति परमेश्वरे ।
सर्गस्थितिलयान् यान्ति बुद्बुदानीव वारिणि ॥ ८॥

जल के बुलबुलों की तरह सारे लोक परमात्मा में उठते, स्थित होते और विलीन हो जाते हैं, जो सबका उपादान कारण और आधार है।

सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः ।
व्यक्तयो विविधाः सर्वा हाटके कटकादिवत् ॥ ९॥

समस्त व्यक्त जगत् तथा प्राणी उस मूलाधार पर कल्पना द्वारा प्रक्षेपित किये जाते हैं, जो सनातन सर्वव्यापी विष्णु है, जिनका स्वरुप सत्ता-बुद्धि है; जैसे भिन्न-भिन्न आभूषण एक ही सोने से बनाये जाते हैं।

यथाकाशो हृषीकेशो नानोपाधिगतो विभुः ।
तद्भेदाद्भिन्नवद्भाति तन्नाशे केवलो भवेत् ॥ १०॥

सर्वव्यापी आकाश अनेक उपाधियों से युक्त होने के कारण अनेक प्रतीत होता है, जो एक दूसरे से भिन्न हैं। इन सीमित उपाधियों के नष्ट होने पर आकाश एक हो जाता है: इसी प्रकार सर्वव्यापी सत्य भी अनेक उपाधियों से युक्त होने के कारण अनेक प्रतीत होता है, तथा इन उपाधियों के नष्ट होने पर एक हो जाता है।

नानोपाधिवशादेव जातिवर्णाश्रमादयः ।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादि भेदवत् ॥ ११॥

विभिन्न उपाधियों से संबद्ध होने के कारण जाति, रंग

और स्थिति जैसे विचार आत्मा पर आरोपित होते हैं, जैसे स्वाद, रंग आदि जल पर आरोपित होते हैं।

पंचीकृतमहाभूतसंभवं कर्मसंचितम् ।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते ॥ १२॥

प्रत्येक व्यक्ति के अपने पूर्व कर्मों के आधार पर निर्धारित तथा पंच तत्वों से निर्मित - जो पंच-विभाजन तथा परस्पर संयोजन (पंचीकरण) की प्रक्रिया से गुजरे हैं - स्थूल शरीर का जन्म होता है, यह माध्यम जिसके माध्यम से सुख और दुःख का अनुभव होता है, अनुभवों का तम्बू।

पंचप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपंचीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥ १३॥

पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, जो कि मूल तत्त्वों (तन्मात्राओं) से उनके पंच-विभाजन और एक-दूसरे के साथ पारस्परिक संयोजन (पंचीकरण) से पहले निर्मित होते हैं और यह सूक्ष्म शरीर, अनुभव के साधन (व्यक्ति के) हैं।

अनाद्यविद्याऽनिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते।
उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत् ॥ १४॥

अविद्या जो अवर्णनीय और अनादि है, वह कारण शरीर है। यह निश्चयपूर्वक जान लो कि आत्मा इन तीन उपाधियों से भिन्न है।

पंचकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः।
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादियोगेन स्फटिको यथा ॥ १५॥

पांच कोशों के साथ अपनी पहचान में निष्कलंक आत्मा ने उनके गुणों को स्वयं में ग्रहण कर लिया है; जैसा कि एक स्फटिक के मामले में होता है जो अपने आस-पास के रंग (नीला कपड़ा, आदि) को अपने में समाहित कर लेता है।

वपुस्तुषादिभिः कोशैर्युक्तं युक्त्यवघाततः।
आत्मानमन्तरं शुद्धं विविच्यात्तण्डुलं यथा ॥ १६॥

विवेकपूर्ण आत्म-विश्लेषण और तार्किक विचार के द्वारा हमें अपने भीतर स्थित शुद्धात्मा को आवरणों से उसी प्रकार अलग करना चाहिए, जैसे चावल को उसके

आवरण में मौजूद भूसी, चोकर आदि से अलग किया जाता है।

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।
बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्॥ १७॥

आत्मा सर्वव्यापक होने पर भी सबमें प्रकाशित नहीं होती। वह केवल आंतरिक उपकरण, बुद्धि में ही प्रकट होती है, जैसे स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्ब।

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो विलक्षणम्।
तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्यादात्मानं राजवत्सदा॥ १८॥

मनुष्य को यह समझना चाहिए कि आत्मा सदैव राजा के समान है, शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से पृथक, जो सभी मिलकर प्रकृति का निर्माण करते हैं; तथा वह उनके कार्यों का साक्षी है।

व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवाविवेकिनाम्।
दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशी॥ १९॥

जब आकाश में बादल घूमते हैं तो चन्द्रमा दौड़ता हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार विवेकहीन व्यक्ति को जब

इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा का अवलोकन किया जाता है तो वह सक्रिय प्रतीत होती है।

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः ।
स्वक्रियार्थेषु वर्तन्ते सूर्यालोकं यथा जनाः । २०॥

आत्म चैतन्य की प्राणशक्ति पर निर्भर होकर शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने-अपने कार्य करते हैं, जैसे मनुष्य सूर्य के प्रकाश पर निर्भर होकर कार्य करते हैं।

देहेन्द्रियगुणान्कर्माण्यमले सच्चिदात्मनि ।
अध्यस्यन्त्यविवेकेन गगने नीलतादिवत् ॥ २१॥

मूर्ख लोग विवेक शक्ति के अभाव के कारण शरीर और इन्द्रियों के विविध कार्यों को आत्मा पर आरोपित कर देते हैं, जैसे वे आकाश को नीला रंग आदि बता देते हैं।

अज्ञानान्मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि चात्मनि ।
कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादि यथाम्भसः । २२॥

जल में जो कंपन है, उसे अज्ञानता के कारण जल पर नाचते हुए प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के कारण माना जाता है;

इसी प्रकार कर्म, भोग तथा अन्य सीमाओं (जो वास्तव में मन के हैं) को भी भ्रमवश आत्मा का स्वरुप समझ लिया जाता है।

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते ।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद्बुद्धेस्तु नात्मनः ॥ २३॥

आसक्ति, इच्छा, सुख, दुःख आदि का अस्तित्व तब तक महसूस किया जाता है जब तक बुद्धि या मन काम करता है। गहरी नींद में जब मन का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, तब इनका अनुभव नहीं किया जाता। इसलिए ये केवल मन से संबंधित हैं, आत्मा से नहीं।

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता ।
स्वभावः सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलतात्मनः ॥ २४॥

जिस प्रकार सूर्य का स्वभाव तेज है, जल का स्वभाव शीतलता है और अग्नि का स्वभाव उष्णता है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव शाश्वतता, पवित्रता, वास्तविकता, चेतना और आनंद है।

आत्मनः सच्चिदंशश्च बुद्धेर्वृत्तिरिति द्वयम् ।
संयोज्य चाविवेकेन जानामीति प्रवर्तते ॥ २५॥

आत्मा के अस्तित्व-ज्ञान-पक्ष और बुद्धि की विचार-तरंग-इन दोनों के अविवेकी सम्मिश्रण से 'मैं जानता हूँ' की धारणा उत्पन्न होती है।

आत्मनो विक्रिया नास्ति बुद्धेर्बोधो न जात्विति ।
जीवः सर्वमलं ज्ञात्वा ज्ञाता द्रष्टेति मुह्यति ॥ २६॥

आत्मा कभी कुछ नहीं करती और बुद्धि में स्वयं यह अनुभव करने की क्षमता नहीं होती कि 'मैं जानता हूँ'। लेकिन हमारे अन्दर का व्यक्तित्व भ्रमवश यह सोचता है कि वह स्वयं ही द्रष्टा और ज्ञाता है।

रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत् ।
नाहं जीवः परात्मेति ज्ञातं चेन्निर्भयो भवेत् ॥ २७॥

जैसे रस्सी को साँप समझने वाला व्यक्ति भय से ग्रसित हो जाता है, वैसे ही अपने को अहंकार (जीव) समझने वाला भी भय से ग्रसित हो जाता है। हमारे अन्दर का अहंकारी व्यक्तित्व यह समझकर निर्भय हो जाता है कि

वह जीव नहीं, बल्कि स्वयं परमात्मा है।

आत्मावभासयत्येको बुदध्यादीनीन्द्रियाण्यपि ।
दीपो घटादिवत्स्वात्मा जडैस्तैर्नावभास्यते ॥ २८॥

जिस प्रकार दीपक घड़े या बर्तन को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा मन तथा इन्द्रियों आदि को प्रकाशित करती है। ये भौतिक वस्तुएँ स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकतीं, क्योंकि वे जड़ हैं।

स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरुपतयात्मनः ।
न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मप्रकाशने ॥ २९॥

एक जलते हुए दीपक को प्रकाश देने के लिए किसी अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार आत्मा जो स्वयं ज्ञान है, उसे जानने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती।

निषिध्य निखिलोपाधीन्नेति नेतीति वाक्यतः ।
विद्यादैक्यं महावाक्यैर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ३0॥

यह ऐसा नहीं है, यह ऐसा नहीं है' इस शास्त्रीय कथन की सहायता से उपाधियों के निषेध की प्रक्रिया द्वारा,

महान महावाक्यों द्वारा सूचित व्यक्तिगत आत्मा और परमात्मा की एकता को साकार करना होगा।

आविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत्क्षरम् ।
एतद्विलक्षणं विद्यादहं ब्रह्मेति निर्मलम् ॥ ३१॥

कारण शरीर पर्यन्त जो शरीर आदि पदार्थ हैं, वे सब बुदबुदों के समान नाशवान हैं। विवेक से जान लो कि मैं ही वह शुद्ध ब्रह्म हूँ जो इन सबसे सर्वथा पृथक हूँ।

देहान्यत्वान्न मे जन्मजराकार्श्यलयादयः ।
शब्दादिविषयैः सङ्गो निरिन्द्रियतया न च ॥ ३२॥

मैं शरीर से भिन्न हूँ, इसलिए मैं जन्म, झुर्रियाँ, बुढ़ापा, मृत्यु आदि परिवर्तनों से मुक्त हूँ। ध्वनि और स्वाद जैसे इन्द्रिय विषयों से मेरा कोई संबंध नहीं है, क्योंकि मैं इन्द्रिय-इन्द्रियों से रहित हूँ।

अमनस्त्वान्न मे दुःखरागद्वेषभयादयः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादि श्रुतिशासनात् ॥ ३३॥

मैं मन से भिन्न हूँ, इसलिए मैं शोक, आसक्ति, द्वेष और

भय से मुक्त हूँ, क्योंकि "वह श्वास और मन से रहित है, शुद्ध है, आदि" ऐसा महान् शास्त्र उपनिषदों का आदेश है।

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरंजनः ।
निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः ॥ ३४॥

गुण और कर्म से रहित हूँ; नित्य, निर्विकल्प, निरंजना, निर्विकार, निराकार, नित्य मुक्त, निर्मला हूँ।

अहमाकाशवत्सर्वं बहिरन्तर्गतोऽच्युतः ।
सदा सर्वसमः सिद्धो निःसङ्गो निर्मलोऽचलः ॥ ३५॥

मैं आकाश की तरह भीतर और बाहर सभी चीजों में व्याप्त हूं। सभी में अपरिवर्तित और एक समान, हर समय मैं शुद्ध, अनासक्त, निष्कलंक और गतिहीन हूं।

नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत् ॥ ३६॥

मैं ही वह परब्रह्म हूँ जो शाश्वत, शुद्ध और मुक्त, एक, अविभाज्य और अद्वैत है तथा जिसका स्वभाव

अपरिवर्तनशील-ज्ञान-अनंत है।

एवं निरन्तराभ्यस्ता ब्रह्मैवास्मीति वासना ।
हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगानिव रसायनम् ॥ ३७॥

निरंतर अभ्यास से उत्पन्न 'मैं ब्रह्म हूँ' यह भावना अज्ञान और उससे उत्पन्न व्याकुलता को उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे औषधि या रसायन रोग को नष्ट कर देते हैं।

विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः ।
भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः ॥ ३८॥

एकांत स्थान पर बैठकर, मन को इच्छाओं से मुक्त करके और इन्द्रियों को वश में करके, एकनिष्ठ होकर उस आत्मा का ध्यान करो, जो अद्वितीय है।

आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः ।
भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत्सदा ॥ ३९॥

बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह बुद्धिपूर्वक सम्पूर्ण जगत् को आत्मा में ही लीन कर दे और सदैव यह विचार करे कि आत्मा आकाश आदि किसी भी वस्तु से

दूषित नहीं है।

रुपवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित् ।
परिपूर्णचिदानन्दस्वरुपेणावतिष्ठते ॥ ४०॥

जिसने परब्रह्म को जान लिया है, वह नाम और रुप की वस्तुओं के साथ अपनी सारी पहचान त्याग देता है। (इसके बाद) वह अनंत चेतना और आनंद के स्वरुप के रुप में निवास करता है। वह स्वयं आत्मा बन जाता है।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परे नात्मनि विद्यते ।
चिदानन्दैकरुपत्वाद्दीप्यते स्वयमेव तत् ॥ ४१॥

परमात्मा में 'ज्ञाता', 'ज्ञान' और 'ज्ञान का विषय' जैसे भेद नहीं हैं। अनंत आनंदस्वरुप होने के कारण वह अपने भीतर ऐसे भेद नहीं रखता। वह स्वयं ही प्रकाशित होता है।

एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते ।
उदितावगतिर्ज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत् ॥ ४२॥

जब आत्मा के निम्नतर और उच्चतर पहलुओं को एक साथ अच्छी तरह से मथ दिया जाता है, तो उससे ज्ञान

की अग्नि उत्पन्न होती है, जो अपनी प्रचंड ज्वाला में हमारे भीतर के अज्ञान के सारे ईंधन को जलाकर भस्म कर देती है।

अरुणेनेव बोधेन पूर्वं सन्तमसे हृते ।
तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव ॥ ४३॥

जब सूर्योदय होता है, तब स्वयं अरुणदेव भी घने अंधकार को दूर कर देते हैं। जब सम्यक् ज्ञान हृदय में स्थित अंधकार को नष्ट कर देता है, तब आत्मा की दिव्य चेतना का उदय होता है।

आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्तवदविद्यया ।
तन्नाशे प्राप्तवद्भाति स्वकण्ठाभरणं यथा ॥ ४४॥

आत्मा एक शाश्वत सत्य है। फिर भी अज्ञान के कारण इसकी अनुभूति नहीं होती। अज्ञान के नाश होने पर आत्मा की प्राप्ति होती है। यह गले के आभूषण के समान है, जिसे खोया हुआ समझ कर अपने गले में ही पाया हो।

स्थाणौ पुरुषवद्भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता ।
जीवस्य तात्त्विके रूपे तस्मिन्दृष्टे निवर्तते ॥ ४५॥

अज्ञान के कारण ब्रह्म जीव प्रतीत होता है, जैसे अंधेरे में खंभा भूत प्रतीत होता है। जब जीव का वास्तविक स्वरुप आत्मा के रुप में अनुभव हो जाता है, तब अहं-केंद्रित-व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है।

तत्त्वस्वरुपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमंजसा ।
अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत् ॥ ४६॥

'मैं' और 'मेरा' की धारणाओं से उत्पन्न अज्ञानता, आत्मा के वास्तविक स्वरुप की अनुभूति से उत्पन्न ज्ञान से नष्ट हो जाती है, जैसे सही जानकारी दिशाओं के बारे में गलत धारणा को दूर कर देती है।

सम्यग्विज्ञानवान् योगी स्वात्मन्येवाखिलं जगत् ।
एकं च सर्वमात्मानमीक्षते ज्ञानचक्षुषा ॥ ४७॥

पूर्ण साक्षात्कार और आत्मज्ञान प्राप्त योगी अपने ज्ञान चक्षु से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपनी आत्मा में देखता है और बाकी सब को अपनी आत्मा ही मानता है।

आत्मैवेदं जगत्सर्वमात्मनोऽन्यन्न विद्यते ।

मृदो यद्वद्घटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते ॥ ४८॥

आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है: यह मूर्त ब्रह्मांड ही आत्मा है। जैसे बर्तन और सुराही मिट्टी से बने होते हैं और उन्हें मिट्टी के अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता, वैसे ही प्रबुद्ध आत्मा के लिए जो अनुभव किया जाता है, वह आत्मा ही है।

जीवन्मुक्तस्तु तद्विद्वान्पूर्वोपाधिगुणांस्त्यजेत् ।
सच्चिदानन्दरुपत्वात् भवेद्भ्रमरकीटवत् ॥ ४९॥

आत्मज्ञान से युक्त मुक्तपुरुष अपने पूर्व वर्णित उपाधियों के लक्षणों को त्याग देता है और अपने सत्-चित्-आनंद स्वरुप के कारण वह ततैया के समान ब्रह्म हो जाता है।

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान् ।
योगी शान्तिसमायुक्त आत्मारामो विराजते ॥ ५०॥

मोह रुपी सागर को पार करके तथा रुचि-अरुचि रुपी राक्षसों को मारकर, शांति से युक्त हुआ योगी, अपने सिद्ध स्वरुप की महिमा में आत्माराम के रुप में निवास

करता है।

बाह्यानित्यसुखासक्तिं हित्वात्मसुखनिर्वृतः ।
घटस्थदीपवत्स्वस्थः स्वान्तरेव प्रकाशते ॥ ५१॥

आत्मस्थ जीवनमुक्त पुरुष, बाह्य सुख के मोह से सर्वथा विरत होकर, आत्मा से प्राप्त आनन्द से संतुष्ट होकर, घड़े के अन्दर रखे दीपक के समान भीतर से चमकता है।

उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैरलिप्तो व्योमवन्मुनिः ।
सर्वविन्मूढवत्तिष्ठेदसक्तो वायुवच्चरेत् ॥ ५२॥

ज्ञानी पुरुष उपाधियों में स्थित होते हुए भी उनके गुणों से लिप्त नहीं होता, जैसे आकाश सबमें स्थित होकर भी उनसे अछूता रहता है। वह सब कुछ जानकर भी मूर्ख के समान व्यवहार करता है और आसक्ति रहित होकर वायु के समान स्वतंत्र विचरण करता है।

उपाधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेषं विशेन्मुनिः ।
जले जलं वियद्व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा ॥ ५३॥

उपाधियों के नाश होने पर ध्यानी पुरुष सर्वव्यापक

'विष्णु' में उसी प्रकार लीन हो जाता है, जैसे जल जल में, आकाश आकाश में तथा प्रकाश प्रकाश में लीन हो जाता है।

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम् ।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५४॥

उस ब्रह्म को जानो, जिसकी प्राप्ति से फिर कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाता, जिसकी धन्यता से फिर कोई अन्य आशीर्वाद वांछित नहीं रह जाता तथा जिसके ज्ञान से फिर कुछ भी जानने योग्य नहीं रह जाता।

यद्दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः ।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५५॥

उस ब्रह्म को जानो जिसे देख लेने पर देखने योग्य कुछ भी नहीं बचता, जो एक हो जाने पर इस संसार में दोबारा जन्म नहीं लेता तथा जिसे जान लेने पर जानने योग्य कुछ भी नहीं बचता।

तिर्यगूर्ध्वमधः पूर्णं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
अनन्तं नित्यमेकं यत्तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५६॥

उस ब्रह्म को जानो जो सत्-ज्ञान-आनन्द-परम है, जो अद्वैत, अनन्त, शाश्वत और एक है तथा जो सब दिशाओं को ऊपर, नीचे तथा बीच में जो कुछ भी है भरता है।

अतद्व्यावृत्तिरुपेण वेदान्तैर्लक्ष्यतेऽद्वयम् ।
अखण्डानन्दमेकं यत्तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५७॥

उस ब्रह्म को जानो जो अद्वैत, अविभाज्य, एक और आनंदमय है और जिसे वेदान्त में अपरिवर्तनीय आधार कहा गया है, जो सभी मूर्त वस्तुओं के निषेध के बाद प्राप्त होता है।

अखण्डानन्दरुपस्य तस्यानन्दलवाश्रिताः ।
ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनोऽखिलाः ॥ ५८॥

ब्रह्मा आदि देवता ब्रह्म के असीम आनन्द का केवल एक कण ही चखते हैं और उसी कण का अपने अनुपात में आनन्द लेते हैं।

तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्तदन्वितः ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले ॥ ५९॥

सभी वस्तुएं ब्रह्म से व्याप्त हैं। सभी कार्य ब्रह्म के कारण ही संभव हैं: इसलिए ब्रह्म सभी चीजों में उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे मक्खन दूध में व्याप्त होता है।

अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ।
अरुपगुणवर्णाख्यं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ६०॥

उस ब्रह्म को जानो जो न सूक्ष्म है, न स्थूल है, न लघु है, न दीर्घ है, न जन्म है, न परिवर्तन है, न रुप है, न गुण है, न नाम है।

यद्भासा भास्यतेऽर्कादि भास्यैर्यत्तु न भास्यते ।
येन सर्वमिदं भाति तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ६१॥

जिसके प्रकाश से सूर्य और चन्द्रमा जैसे प्रकाशमान पिंड प्रकाशित होते हैं, परंतु जो उनके प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता, उसे तू ब्रह्म जान।

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्नखिलं जगत् ।
ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत् ॥ ६२॥

परब्रह्म समस्त ब्रह्माण्ड में बाह्य तथा आन्तरिक रुप से व्याप्त होकर स्वयं ही चमकता है, जैसे अग्नि तप्त

लौह-गोलक में व्याप्त होकर स्वयं ही चमकती है।

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किंचन ।
ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ॥ ६३॥

ब्रह्म इस ब्रह्माण्ड से भिन्न है। ऐसा कुछ भी नहीं है जो ब्रह्म न हो। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु विद्यमान प्रतीत होती है, तो वह मृगतृष्णा के समान मिथ्या है।

दृश्यते श्रूयते यद्यद्ब्रह्मणोऽन्यन्न तद्भवेत् ।
तत्त्वज्ञानाच्च तद्ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥ ६४॥

जो कुछ भी देखा या सुना जाता है, वह सब ब्रह्म है, उसके अलावा कुछ भी नहीं। वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने पर, व्यक्ति ब्रह्मांड को अद्वैत ब्रह्म, अस्तित्व-ज्ञान-आनंद-परम के रुप में देखता है।

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥ ६५॥

यद्यपि आत्मा शुद्ध चैतन्य है और सर्वत्र विद्यमान है, फिर

भी वह केवल ज्ञान-चक्षुओं से ही देखा जा सकता है; किन्तु जिसकी दृष्टि अज्ञान के कारण धुँधली हो गई है, वह उसे नहीं देख सकता; जैसे अन्धा तेजस्वी सूर्य को नहीं देख सकता।

श्रवणादिभिरुद्दीप्तज्ञानाग्निपरितापितः ।
जीवः सर्वमलान्मुक्तः स्वर्णवद्द्योतते स्वयम् ॥ ६६॥

मलों से मुक्त जीव, श्रवण आदि से प्रज्वलित ज्ञानरुपी अग्नि में तपकर, स्वर्ण के समान चमक उठता है।

हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोऽपहृत् ।
सर्वव्यापी सर्वधारी भाति भासयतेऽखिलम् ॥ ६७॥

आत्मा, ज्ञान का सूर्य जो हृदय रुपी आकाश में उदित होता है, अज्ञान रुपी अंधकार का नाश करता है, सबमें व्याप्त रहता है, सबका पोषण करता है, चमकता है और सब कुछ चमका देता है।

दिग्देशकालाद्यनपेक्ष्य सर्वगं
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरंजनम् ।
यः स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः

स सर्ववित्सर्वगतोऽमृतो भवेत् ॥ ६८॥

जो मनुष्य समस्त कर्मों का त्याग करके, देश, काल और दिशा की समस्त सीमाओं से मुक्त होकर, सर्वत्र व्याप्त, शीत और उष्णता का नाश करने वाले, सनातन और आनंदस्वरुप अपने आत्मा की उपासना करता है, वह सर्वज्ञ और सर्वव्यापी हो जाता है और तत्पश्चात् अमरत्व को प्राप्त होता है।

॥ इति शंकराचार्यविरचित आत्मबोधः समाप्तः ॥